मुखौटा-कला और रंगकर्म

प्रो. ज्ञानतोष कुमार झा

भारतीय परंपरा में लोक और शास्त्र एक-दूसरे के पूरक रहे हैं। कभी एक-दूसरे से टकराते हुए तो कभी एक-दूसरे से प्रभाव ग्रहण करते हुए, संपुष्ट होते हुए, दोनों धाराएँ स्वतंत्र रूप से समानांतर आगे बढ़ती रही हैं। निःसंदेह कला की लोक परंपराओं को शास्त्रबद्ध अर्थात नियमबद्ध करने से शास्त्रीय परंपरा की नींव रखी गई होगी। ये अलग बात है कि कला की शास्त्रीय परंपराओं को हमेशा से 'राज्य' का संरक्षण मिलता रहा, जिसके सहारे उसका विकास हुआ और वह मुख्यधारा बनती चली गई होगी। बावजूद लोक की परंपरा भी अविछिन्न रूप से प्रवाहमान रही। भरतमुनि ने 'नाट्यशास्त्र' में जिस प्रकार से 'रंगमंच' का शास्त्रीयकरण किया, वह इस बात का प्रमाण है कि उनसे पहले भी लोक में विस्तृत नाट्य-परंपरा रही होगी। स्वयं भरत ने दो धर्मिताओं-लोकधर्मी और नाट्यधर्मी का उल्लेख किया है। सुप्रसिद्ध नाटककार मुद्राराक्षस का मानना है कि भरत नाटक को जनता से भद्रलोक में ले गए, जिसका प्रमाण है उनका कथन 'अनुयुक्त उच्यते चित्रः स चित्राभिनयः' अर्थात अभिनय में जो संवाद (शब्द) के अलावा चित्र पद्धति से कहा जाता है वह चित्राभिनय होता है। इस संदर्भ में उन्होंने 'नट' शब्द पर विचार किया है जिसका प्रयोग अत्यंत प्राचीन है। वाल्मीकि के रामायण और व्यास के महाभारत में नट तथा नर्तक का वर्णन है। इसके अलावा, "पाणिनी के 'नट-सूत्र' और पतंजलि द्वारा उनके 'महाभाष्य' में बलि को बांधने और कंस को मारने की घटनाओं का उल्लेख ध्यान देने लायक है।"[1] भरत के नाट्यशास्त्र में किसी नाटक के रंगमंच पर पहली प्रस्तुति का वर्णन है। जिसके अनुसार ब्रह्मा के आदेश पर भरत ने देवासुर संग्राम को रंगमंच पर प्रस्तुत किया, लेकिन उस नाटक में खुद को गलत रूप में दिखाए जाने के कारण असुरों ने इस नाटक के प्रदर्शन को बंद करवाना चाहा जिसका इंद्र ने सशस्त्र प्रतिकार किया। इस घटना से इतना स्पष्ट है कि 'देवासुर संग्राम' को अपनी नजर से प्रस्तुत करने के लिए बाद में असुरों ने भी अपने रंगमंच का विकास किया होगा। साथ ही भरत से पहले भी जनता में नाटक अनुष्ठान और सामूहिक अनुभूतियों के प्रदर्शन के रूप में मौजूद रहा होगा।

भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में चार प्रकार के अभिनय की चर्चा की है-वाचिक अभिनय, आंगिक अभिनय, आहार्य अभिनय और सात्विक अभिनय। इसके अलावा उन्होंने पांचवाँ 'चित्राभिनय' को अभिनय का स्वतंत्र अंग न मानकर मंच पर परिवेश या वातावरण के निर्माण के रूप में उल्लेख किया है। जैसे-तैरने का अभिनय, पर्वत पर चढ़ने का अभिनय आदि। देखा जाए तो 'चित्राभिनय' 'आंगिक अभिनय' का ही एक हिस्सा है। अभिनय की इन सभी धाराओं में लोक नाट्य की परंपरा रही है जिसमें 'मुखौटों' का प्रयोग मिलता है। तात्पर्य यह कि 'मुखौटा कला' लोक की उपज रही होगी जो बाद में अलग-अलग संदर्भों और आयामों से जुड़ती चली गई होगी। आज भी मुखौटों का सर्वाधिक प्रयोग रंगमंच की लोक नाट्य शैलियों में

किया जाता है। लोक नाट्य शैलियों के संदर्भ में प्रसिद्ध रंगकर्मी देवेंद्र राज अंकुर का कहना है कि, "भरत के चहुँमुखी अभिनय की वास्तविक छटा मध्यकाल में ही दिखाई पड़ती है- वाचिक के उदाहरण के रूप में उत्तर भारत की अधिकांश लोकशैलियाँ, विशेष रूप से रामलीला, नौटंकी, भाँड़ और स्वाँग, आंगिक के उदाहरण के लिए यक्षगान, आहार्य के प्रतीक के रूप में कथकलि और सात्विक की दृष्टि कूडिअय्म।"[2] निःसंदेह एक तरफ रंगमंच और अभिनय को भारत में जहाँ आरंभिक काल में ही शास्त्रबद्ध कर दिया गया, वहीं वह शास्त्रमुक्त होकर भी समानांतर गतिशील रहा और मुखौटा, लोकनाट्य की इस गतिशील परंपरा के एक प्रमुख रंग-उपांग के रूप में नृत्य और अभिनेयता के साथ जुड़ा रहा। जब रामायण, रासलीला आदि जैसे पौराणिक कथानकों के प्रदर्शन की शुरुआत हुई होगी तो असुर और गैर-मानवीय पात्रों के अभिनय में मुखौटों के प्रयोग की शुरुआत हुई होगी।

इतना तो स्पष्ट है कि मुखौटा-कला मानव सभ्यता की प्राचीनतम कलाओं में से एक है। लोक और शास्त्रीय परंपरा में समान रूप से इसका उपयोग अलग-अलग संदर्भों में होता रहा है। आस्था, नृत्य और अभिनय के साथ-साथ मृतक की स्मृतियों को संजोकर रखने के लिए भी मुखौटों का प्रयोग प्राचीनकाल से होता रहा है। मुखौटा मानव के चेहरे का प्रतिरूप है जिसके बहाने उसके व्यक्तित्व के सकारात्मक और नकारात्मक, दोनों पक्षों की अभिव्यक्ति की जाती है। मुखौटों के माध्यम से मानव अपने भावों की अभिव्यक्ति सफलतापूर्वक करता रहा है। आदिवासी समुदाय अपने पुरखों की याद को संजोने के लिए मुखौटा पहनते हैं और अपने पारंपरिक उत्सवों में भी इसका प्रयोग करते रहे हैं। नृत्य में भी मुखौटों का प्रयोग प्राचीनकाल से होता रहा है। भारतीय समाज में आस्था के संदर्भ में विभिन्न देवी-देवताओं के मुखौटे बनाने की परंपरा भी काफी पुरानी है। समकालीन रंगमंच और फिल्मों में भी कई प्रयोगधर्मी निर्देशकों ने मुखौटे का प्रयोग कर अभिनय को नया आयाम दिया है। ऐसा माना जाता है कि हमारे शरीर के प्रत्येक अंग में देवताओं का वास होता है, नाट्य-प्रदर्शन में कोई दर्शक विघ्न न उपस्थित कर पाए, इसीलिए अभिनेता अपने चेहरे पर सफेद-काले रंग लगाते हैं, खासकर विदूषक। गाँवों में आज भी जब कोई अपना नया घर बनाने लगता है तो सबसे पहले टूटे मिट्टी के बर्तन के ऊपर कालिख-चूना लगाकर उसे टांग देता है ताकि किसी की नजर न लगे और उसका घर निर्विघ्न बन जाए। शहरों में तो बने-बनाए नजरबट्टू मिल जाते हैं। मुखौटा मानव संस्कृति के साथ किस प्रकार अभिन्न रहा है, उसका प्रमाण है इससे संदर्भित मुहावरे और कहावतें। आज भी किसी व्यक्ति की निंदा करने के लिए कहा जाता है कि अमुक व्यक्ति ने 'सराफत का मुखौटा' लगा रखा है या फिर 'मुखौटा उतर जाना' जैसे मुहावरे आज भी प्रचलित हैं।

सुप्रसिद्ध रंग आलोचक जयदेव तनेजा मुखौटा की परिभाषा देते हुए लिखते हैं कि, "सामान्यतः जो चीज किसी के मुख को ओट में ले जाए या छिपा दे उसे मुखौटा कहते हैं। परंतु विशिष्ट अर्थ में मुखौटा वह वस्तु है जो उसे पहनने वाले मुख या चेहरे को छिपाने के साथ-साथ उसे एक नई शक्ल और पहचान भी देती है।"[3] ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी के अनुसार 'जो चेहरे को ढक ले, रूप बदलने के लिए प्रयोग में आए, किसी को डराने के लिए या मनोरंजन के लिए' प्रयुक्त हो वह मुखौटा (मास्क) है। पारंपरिक रूप से विश्व के अलग- अलग क्षेत्रों में अलग-अलग तरीकों से मुखौटे बनाने की परंपरा रही है। मानव के साथ-साथ दैवीय

और राक्षसी शक्ति के प्रतीक के रूप में भी मुखौटे बनाए जाते हैं। लोक विश्वास के अनुसार मुखौटे में आत्मा, देव और दानव का वास होता है।

इस संदर्भ में प्रख्यात विदुषी डॉ. कपिला वात्स्यायन द्वारा 20 फरवरी से 25 फरवरी, 1998 को दिल्ली के 'इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केंद्र में आयोजित मुखौटों की अंतरराष्ट्रीय प्रदर्शनी 'रूप-प्रतिरूप' भी उल्लेखनीय है, जिसमें 21 देशों के 400 प्रकार के मुखौटों का प्रदर्शन हुआ था। साथ ही इस विषय पर संगोष्ठी और मुखौटा-कला, नृत्य आदि का प्रदर्शन भी किया गया था। इसी को आगे बढ़ाते हुए वर्ष 2010 में 'इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केंद्र' में मुखौटा पर एक मल्टीमीडिया परियोजना की भी शुरुआत की गई, जिसमें इस संस्थान में संगृहीत विश्व के 22 देशों के चयनित मास्क छवियों का डेटाबेस तैयार कर मुखौटे के अध्ययन में सहयोग करने के लिए एक 'इंटरैक्टिव मल्टीमीडिया' की प्रस्तुति करने की योजना बनी। इस योजना के अंतर्गत 'आईजीएनसीए' द्वारा 'बेपर्दा मास्क, अचेतन और चेतन कठपुतलियाँ, कहानियों के साथ कहानियां' 'मैन एंड मास्क' शीर्षक से डीवीडी-रॉम जारी किया गया। डॉ. कपिला वात्स्यायन के अनुसार, "मुखौटों के होने का पहला संदर्भ या संकेत लगभग तीस हजार वर्ष ई. पूर्व (जिन्हें कुछ इतिहासकर दस हजार वर्ष ई. पू. भी मानते हैं) की चट्टानों पर उकेरे गए चित्रों में मिलता है।"[4] स्पेन, तंजानिया, अल्जीरिया, लीबिया, कजाकिस्तान, मैक्सिको, स्वीडन, पेरु और कनाडा की अनेक गुफाओं और कंदराओं में प्रागैतिहासिक मुखौटों के पाषाण-चित्र मिलते हैं। भारतीय उप महाद्वीप में मोहनजोदड़ो-हड़प्पा और भोपाल के पास भीमबेटका में भी मुखौटों के प्राचीन चिह्न मौजूद हैं। वैसे मुखौटों के प्रत्यक्ष प्रमाण मिस्र में 2040-1786 ई.पू. से लेकर ईसा की पहली शताब्दी के बीच के मिले हैं। मिस्र और रोम में मृतक के अंतिम संस्कार के समय मुखौटा लगाने की परंपरा थी जिसे वे दफनाने के समय संभाल कर रख लेते थे। राजा और विशिष्ट व्यक्ति के मुखौटे सोने या चांदी के होते थे और सामान्यजन के मुखौटे प्लास्टर किए कपड़े के होते थे। अफ्रीकन देशों में भी मुखौटों के प्रयोग की प्राचीन परंपरा रही है। यहाँ मुखौटों का प्रयोग धार्मिक और प्रतीकात्मक रूप से होता रहा है। "संभवतः मुखौटों का नवीनतम इस्तेमाल आदिवासियों ने शिकार के समय जानवरों से अपना चेहरा छुपाने के लिए जीवन-सुरक्षा की दृष्टि से किया होगा। इनके अलावा चीन में रोगों के मुखौटे चिकित्सा के लिए, सिंह के मुखौटे शत्रुओं में आतंक पैदा करने के लिए, साथ ही प्रजनन और फसलों की वृद्धि के लिए किए जाने वाले अनुष्ठानों में भी मुखौटों का महत्वपूर्ण स्थान था। खेल-मुखौटों (हेलमेट) का प्रयोग तो आज भी खूब किया जाता है।"[5] आज भी गाँवों में किसानों द्वारा पशु-पक्षियों और जंगली जानवरों से अपनी फसल की सुरक्षा के लिए मुखौटों का प्रयोग किया जाता है जिसे 'बिजूका' कहा जाता है। राजस्थान में प्रचलित 'कठपुतली नाच' की पृष्ठभूमि में भी मुखौटे की भूमिका को नकारा नहीं जा सकता है। कांवड़िया-यात्रा में शिवभक्तों द्वारा भगवान शिव के गणों नंदी, भूत-प्रेत आदि का मुखौटा लगाकर स्वाँग करने की परंपरा आज भी देखी जा सकती है। पर्यावरणीय चेतना के जन-जागरण के लिए, मानव एवं प्रकृति के सहचर संबंध को स्थापित करने के लिए भी पर्यावरण संरक्षण के कार्यकर्ता द्वारा वन्य जीव-जंतु के मुखौटों का प्रयोग किया जाता है। इतना तो स्पष्ट है कि मुखौटों का प्रयोग मानव-सभ्यता

की प्राचीनतम कलाओं में से एक है, जो लोक जीवन से जुड़कर लोकनृत्य और लोकनाट्य का अभिन्न हिस्सा बनता गया। आगे चलकर यह कला शास्त्रीय और आधुनिक रंगमंच से भी जुड़ती चली गई।

इस प्रकार लोक और शास्त्र दोनों परंपराओं में प्राचीनकाल से मुखौटों के प्रयोग के प्रमाण मिलते हैं। कुछ नृत्य में तो चेहरे का मेकअप ही मुखौटे का आभास देता है। जैसे-कथकली, कुडियाट्टम, यक्षगान आदि। प्रहलाद नाटक (ओडिशा), भागवत मेला (तमिलनाडु), दशावतार (महाराष्ट्र), गवरी, गंभीरा (राजस्थान), विदापत नाच (बिहार), अंकिया नाट (असम), तेरेकुत्तु, (तमिलनाडु), रामनगर की रामलीला के अलावा उड़ीसा, बंगाल और झारखंड के लोकप्रिय छऊ नृत्य में भी मुखौटों का प्रयोग किया जाता है। अंकिया नाट में मानवेत्तर चरित्रों-गरुड़, मारीच आदि के लिए मुखौटा का प्रयोग किया जाता है। गढ़वाल, उत्तरांचल में प्रचलित लोक-नाट्य लाटापत्तर मुखौटा आधारित है। हिमाचल के ही भोटिया जनजाति मुखौटा नाट्य खेलते हैं जिसे स्थानीय भाषा में 'पत्तर नाट' कहा जाता है। इसके अलावा हिमाचल के लाहौल स्फीति और किन्नौर अंचल में होंरिगफो, छम और छेशू आदि मुखौटे-नाट्य का प्रचलन है। मुखौटे का अत्यधिक प्रचलन छऊ नृत्य में किया जाता है। सरायकेला, पुरुलिया और झारखंड में छऊ अभिनेता मुखौटा का उपयोग करते हैं। सरायकेला छऊ का इतिहास लगभग 1205 ई. से मिलता है। सरायकेला छऊ नृत्य शैली के आधुनिक प्रयोगकर्ता शशीधर आचार्य के अनुसार 'छऊ' शब्द में 'छ' का अर्थ है छादन छा जाना, आच्छादित कर लेना और 'ऊ' लिया गया है 'उपांग' से। छादन के अग्र भाग 'छ' और उपांग के अग्र भाग 'ऊ' के मिलने से ही 'छऊ' बना है। यह अर्थ परंपरा से है। पर मेरे अनुसार उसका अर्थ छाया होना चाहिए। छऊ का अर्थ छाया, प्रतिबिंब इमेज होना चाहिए। जब तक हमारे दिमाग में इमेज नहीं बन पाएगी तो हम कोई भी मुखौटा कैसे बना पाएँगे ? चाहे मोर का ही मुखौटा क्यों न हो।"[6]

छऊ शैली में मुखौटा के अलावा माइम का भी प्रयोग किया जाता है। इस नृत्य में तकनीकी मूलतः प्रकृति से ली गई है जिसमें पशु-पक्षी, जानवर आदि की चाल और उसके व्यवहार आदि का अनुकरण किया जाता है। छऊ की मूल विशेषता इसका आंगिक अभिनय है, इसमें आंगिक अभिनय से ही भावों को प्रदर्शित किया जाता है। इसी प्रकार उत्तर बिहार और तराई नेपाल के 'मिथिलांचल' क्षेत्र के पारंपरिक 'विदापत नाच' में भी मुखौटा का प्रयोग किया जाता है। "इस नाट्यरूप में हरिवंशपुराण के दशम स्कंध पर आधारित पौराणिक नाटक 'पारिजात हरण' का मंचन किया जाता है जिसमें इन्द्र और कृष्ण के सैनिक मुखौटा पहनते हैं। इन मुखौटों में विविधता नहीं होती है, एक जैसी दिखती है। लगता है सेना के दो पक्ष होने के कारण पहचान अलग दिखाने के लिए ये मुखौटे प्रयुक्त होते हैं।"[7] जगदीश चन्द्र माथुर और प्रफुल्ल कुमार सिंह 'मौन के अनुसार इस नाटक में कुछ गीत विद्यापति के गाए जाते हैं, इसीलिए इसे 'विदापत-नाच' कहा जाता है। माथुर इस पर असम के अंकिया नाट का प्रभाव भी मानते हैं, जिससे महेंद्र मलंगिया असहमति जताते हैं।"[8] गौरतलब है कि असम के 'अंकिया-नाट' में मानवेत्तर पात्रों के लिए मुखौटों का प्रयोग किया जाता है। विदापत-नाच गायन प्रधान है जिसमें प्रधान गायक को 'मूलगाइन' कहा जाता है। फणीश्वर नाथ 'रेणु' ने अपनी प्रसिद्ध कहानी 'रसप्रिया' में इस विलुप्त होती लोक नाट्य शैली के कलाकार के दर्द को पचकौड़ी के माध्यम से बड़ी ही मार्मिक अभिव्यक्ति दी है। बिहार के पूर्णिया अंचल प्रचलित इस लोक नाट्य-शैली की

भाषा मैथिली का ठेठ रूप है- "कृष्ण उद्धव से-देखू जमुना किनारे में रास-विलास करते छिनमे हमरे मुरली राधा चोराक' ल' गेल छथिन। से अपने जाउ। बहुत तरह से समुझा-बुझा करके हमर मुरली लाब' जाऊ।"

भारतीय वाङ्मय में सर्वप्रथम भरतमुनि के नाट्यशास्त्र (पाँचवीं शताब्दी) में मुखौटों का संदर्भ और प्रयोग के प्रमाण मिलते हैं। भरतमुनि के अनुसार अगर अनेक बाहुओं वाले, अनेक और भयंकर मुख वाले अथवा किसी पशुओं के मुख वाले पात्रों का अभिनय करना हो या सिंह, खर, ऊँट, हाथी आदि पशुओं के रूप की योजना मंच पर आवश्यक हो तो मिट्टी, लकड़ी, चमड़े आदि से बने हुए मुखौटों का उपयोग करते हुए ऐसे पात्रों की भूमिकाएँ प्रस्तुत की जानी चाहिए। भरतमुनि नाट्यशास्त्र के 35 वें अध्याय में लिखते हैं-

"बहुबाहूबहुमुखास्तथा च विकृताननाः।

पशुश्वापदवक्ताश्च खरोष्ट्राश्च गजाननाः ।। 3।।

एते चान्ये च बहवो नानारूपा भवन्ति ये। आचार्येण तु ते कार्या मृत्काष्ठजतुचर्मभिः।। 4।।"

ओमप्रकाश भारती का मानना है कि नाट्यशास्त्र में भरत मुनि ने कई स्थान पर मुखलेपन का जो निर्देश दिया है उसे 'मुखौटे का दूसरा रूप माना जा सकता है। भारत की तरह यूनानी रंगकर्म में भी प्राचीनकाल से मुखौटों का बहुविधि प्रयोग किया जाता रहा है। खासकर त्रासदी के प्रदर्शन में मुखौटों के प्रयोग के प्रमाण छठी शताब्दी से मिलने लगते हैं। "पुरातात्विक शोध के अनुसार सर्वप्रथम नाट्य प्रस्तुति संबंधी जानकारी ईसा पूर्व 532 एस्किलस की त्रासदी 'द परसिन्स' की प्राप्त होती है, जो ईस्वी पूर्व 479 तक मंचित हुआ। एस्किलस सोफोक्लीज एवं यूरोपोडीज द्वारा लगभग 120 त्रासदियाँ लिखी गई जिनमें से अभी तक 35 उपलब्ध हैं।"[9] जैसा कि पहले जिक्र किया गया यूनान में मृतक के अंतिम संस्कार के अनुष्ठान में मुखौटों का प्रयोग प्राचीनकाल से होता था जो बाद में चलकर रंगकर्म का हिस्सा बन गया होगा। इससे इतना तो स्पष्ट है कि भारतीय और यूनानी सभ्यता में मुखौटों का प्रयोग ईसा पूर्व छठी शताब्दी तक होने लगा था। साथ ही यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि दोनों सभ्यताओं में मुखौटों का आरंभिक उपयोग धार्मिक और संस्कारादि के अवसर पर पहनने या पहनाने के लिए शुरू हुआ होगा, जो बाद में चलकर नृत्य और रंगकर्म से जुड़ा होगा। आखिर रंगमंच भी तो जीवन के गतिशील यथार्थ की अभिव्यक्ति है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि मानव सभ्यता की आदिम कला के रूप में मुखौटा मानव संस्कृति से जुड़ा रहा है। ऋतुराज वशिष्ठ ने ठीक ही लिखा है कि, "सृजनेच्छा मनुष्य का मार्मिक और मौलिक धर्म है। मुखौटों के संदर्भ में यह कहना अधिक तर्कसंगत है कि बाह्य रूप की अभिव्यक्ति करते हुए आंतरिक रूप की अभिव्यक्ति करना है, जैसे-मन में कुछ और बाहर कुछ और। यह दोहराव दिखाने अथवा आंतरिक भावों को दबाने का सर्वश्रेष्ठ साधन रहा है-मुखौटा।"[10] सुप्रसिद्ध चिंतक आलोचक रमेशचन्द्र शाह मुखौटों के आध्यात्मिक पक्ष पर विचार करते हुए लिखते हैं कि, "कहना कठिन है किसके मुखौटे ज्यादा विविध और ज्यादा आकर्षक हैं-विश्व-सृष्टा के अंश इस आदमजात के ? जबर्दस्त होड़ मची है दोनों के बीच। सृष्टा सिर्फ आदमी का मुखौटा पहन के संतुष्ट होता नहीं लगता। हर अवतार का मुखौटा है और इन मुखौटों में केवल नर और नारायण का रिश्ता ही नहीं बोलता, मनुष्येत्तर और मनुष्योपरि जो सृष्टि है, उसके साथ के

सृष्टा का संबंध खुलता है।"[11] डॉ. शाह मुखौटा के संदर्भ में मानव के भीतर सगुण से तादात्म्य स्थापित करने की प्रवृत्ति को स्पष्ट करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मानव द्वारा प्रयुक्त मुखौटे भी सरूप की खोज के उपकरण हैं। स्पष्ट है कि आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक विभिन्न संदर्भों और विभिन्न रूपों में मुखौटों की उपस्थिति मानव संस्कृति के साथ रही है। रामलीला से लेकर रासलीला और आस्था के संदर्भ में विभिन्न देवी-देवताओं के मुखौटों का प्रयोग इसके आध्यात्मिक आयाम का प्रमाण है। इस संदर्भ में मुखौटा दैवीय और आसुरी शक्ति, दोनों संदर्भों में प्रतीक के रूप में प्रयुक्त होता रहा है।

आधुनिक रंगमंच में मुखौटों का प्रयोग बहुविधि रूप से किया जाता रहा है। अभिनय के लिए चेहरे पर सामान्य मेकअप लगाने से लेकर माइम और मुखौटा के प्रयोग तक की विकास यात्रा को परस्पर कड़ी के रूप में देखा जाना चाहिए। चेहरे के बिना अभिनय की कल्पना नहीं की जा सकती और मुखौटा आखिर चेहरे का ही प्रतिरूप है। यही कारण है कि नंदकिशोर आचार्य मुखौटा को उपकरण न मानकर अभिनय विधि मानते हैं। उनका मानना है कि अभिनय में जिसे मुख-मुद्राओं से संप्रेषित नहीं किया जा सकता है उसे मुखौटा के सहारे व्यंजित किया जाता है। चेहरा और मुखौटा को एक-दूसरे का पूरक सिद्ध करते हुए नंदकिशोर आचार्य मानते हैं कि इसी कारण से, "मुखौटों या चेहरों के इस्तेमाल की सर्जनात्मक अनिवार्यता महसूस होती है, जिसके बिना हम नाट्यात्मक या अभिनय संभव यथार्थ के कई स्तरों और पहलुओं से अपरिचित रह जाने को विवंश हो जाते हैं। इसीलिए मुखौटा केवल उपकरण नहीं है, वह एक अभिनय विधि-आहार्य के अभिनय होने की वैधता का प्रमाण है।"[12] नाटकं में मुखौटा का कब प्रयोग शुरू हुआ इसके बारे में पर्याप्त प्रमाण नहीं उपलब्ध है। जयदेव तनेजा भी यही मानते हैं कि पहले मुखौटा आया कि नाटक यह कह पाना कठिन है।"[13] फिर भी ईस्वी पूर्व छठी शताब्दी के आस-पास यूनानी नाटककार थैस्पिस द्वारा अपने नाटकों में मुखौटों के प्रयोग का प्रमाण मिलता है।

आधुनिक हिंदी रंगमंच में मुखौटों का प्रयोग कई लेखकों और निर्देशकों ने किया है। जयदेव तनेजा के अनुसार हिंदी रंगकर्म में मुखौटों का अधिकतम प्रयोग एक मंचीय उपकरण, प्रतीक या नाटकीय रूढ़ि के रूप में किया गया है। बाल नाटकों में चरित्रों के प्रतीकात्मक रूप को व्यंजित करने के लिए पशु-पक्षियों, प्रकृति आदि के विविध रूपों के सादृश्यमूलक मुखौटों का प्रयोग किया गया है। जीव-जंतु को मानव की तरह बोलते हुए देखकर बच्चों की कल्पनाशीलता का विकास होता है। बाद में कॉमिक्स, कार्टून और एनिमेशन फिल्मों का जो विकास हुआ इसके पीछे मुखौटा मुख्य प्रेरणा रहा होगा। डॉ. धर्मवीर भारती के सुप्रसिद्ध नाटक 'अंधायुग' में कौए और उल्लू का प्रतीकात्मक उपयोग किया गया है। 'अंधायुग' के तीसरे अंक में 'अश्वत्थामा के अर्धसत्य' में कौए और उल्लू की मुखाकृति का वेश लिए नर्तक शिशुओं को दिखाया गया है, जहाँ उल्लू की मुखाकृति वाला नर्तक कौए की मुखाकृति वाले नर्तक पर आक्रमण करता है। अश्वत्थामा इस आक्रमण को स्तब्ध होकर देखता है और जैसे ही उल्लू की मुखाकृति वाला नर्तक कौए शिशु की मुखाकृति वाले नर्तक के पंखों को घायल कर देता है, उस घायल पंख को हाथ में उठाकर खुशी से उछलते हुए कृपाचार्य से कहता है-'मिल गया, मिल गया, मातुल मुझे मिल गया।' प्रसिद्ध रंग-निर्देशक

एम.के. रैना के अंधायुग की रंगमंचीय प्रस्तुति पर विचार करते हुए जयदेव तनेजा लिखते हैं कि, "क्रूर नरपशु अश्वत्थामा के पाश्विक चरित्र को मूर्त रूप देने के लिए विशिष्ट रूप-विन्यास के साथ-साथ छड़ी वाले एक दुष्ट मुखौटे का भी प्रयोग किया गया था, जिसे अपने हाथ में पकड़कर अश्वत्थामा (जी.पी. नामदेव) कई अवसर पर कई तरह से इस्तेमाल करके नाट्यानुभव को सघन एवं तीव्र बनाता है। "[14]

रणजीत कपूर ने 'खबसूरत बहू' में बैल, एम.एस. सथ्यू ने 'बकरी' में बकरी, वाल फ्रेम मेहरिंग ने 'बिल्ली चली पहनकर जूता' में बिल्ली के मुखौटों का प्रयोग किया था। गिरीश कर्नाड के नाटक 'हयवदन' में तो घोड़े के मुखौटे की केंद्रीय भूमिका है। घोड़े के अलावा इस नाटक के आरंभ में गणेश वंदना के लिए कुर्सी पर गणेश का मुखौटा रखा जाता है। इस नाटक में काली माँ की जीवंत उपस्थिति मुखौटों के बिना संभव नहीं थी। इसीलिए डॉ. तनेजा के अनुसार 'मुखौटों के सार्थक और नाटकीय प्रयोग की दृष्टि से गिरीश कर्नाड का 'हयवदन' समस्त आधुनिक भारतीय नाटकों में संभवतः सर्वाधिक महत्वपूर्ण, चर्चित अभिमंचित नाट्य-प्रस्तुति है।' 'हयवदन' नाटक के संबंध में निर्देशक दिनेश खन्ना का कहना है कि इसमें "दो कथाओं का एक साथ समायोजन किया गया है। पहली कपिल, देवदत्त और पद्मिनी की प्रेमकथा दूसरी 'हयवदन' की जिसका सिर घोड़े का है, पर वह मनुष्यों जैसा बोलता है। उसकी पूर्णता प्राप्त होने की कथा। दोनों कथाओं में मुखौटे जैसी युक्ति का प्रयोग शिल्प और मनोवैज्ञानिक दोनों स्तरों पर बड़े प्रभावी ढंग से किया गया है। इस नाटक में सबसे प्रभावशाली युक्ति है-देवदत्त और कपिल के सिरों की अदला-बदली और द्वंद्व भरी स्थिति।"[15]

गिरिराज किशोर के नाटक 'चेहरे चेहरे किसके चेहरे' को दिनेश खन्ना विचार प्रतीक और शिल्प की दृष्टि से एक मुखौटा नाटक मानते हैं। इस नाटक का केंद्रीय चरित्र ही 'महान चेहरा' है और जिसके मातहत अनेक चेहरेधारी हैं। इस नाटक के एक दृश्य में एक पात्र का आगमन होता है जो अपने चेहरे पर एक बड़ा मुखौटा लगाए हुए है। वहाँ पहले से मौजूद चारों पात्रों को वह मुखौटे लगाने का आदेश देता है। उसके बाद पांचवाँ महान चेहरे वाला पात्र अपना भाषण देता है और 'बहुजन हिताय बहुजन सुखाय' का नारा देता है। इस नाटक पर आपातकाल की परिस्थितियों को अभिव्यक्त करने के लिए मुखौटों का सृजनात्मक प्रयोग किया गया है। इस नाटक में कोरस का स्वर मुखौटे के मुहावरे को व्यंग्य की धार प्रदान करता है- "चेहरे उसके मोहरे अपने। उनके सपने, अपने सपने। सपने अपने सबके सपने।" इसी प्रकार मुद्राराक्षस, रमेशचन्द्र शाह ने भी अपने कई नाटकों में मुखौटों के प्रयोग का निर्देश दिया है। निर्देशक सत्यदेव दुबे ने बादल सरकार के नाटक 'काला घोड़ा' की प्रस्तुति में एक ही महिला कलाकार से चार लड़कियों का अभिनय करवाया था और आधे मुखौटे के प्रयोग के द्वारा चारों चरित्र को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया था।

पारंपरिक लोक-नाट्य से लेकर आधुनिक रंगमंच तक मुखौटों का सर्वाधिक प्रयोग पौराणिक पात्रों के लिए किया जाता रहा है। रामलीला में हनुमान, सुग्रीव, जामवंत या फिर रावण के दस सिर दिखाने के लिए मुखौटों का प्रयोग प्राचीनकाल से होता रहा है। इसी प्रकार रासलीला में कंस और अन्य असुर पात्रों के अभिनय के लिए भी मुखौटों का प्रयोग किया जाता रहा है। आधुनिक हिंदी मौलिक नाटकों में नाटककार, निर्देशक और अभिनेता डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल ने अपने कई पौराणिक-नाटकों में मुखौटों का प्रयोग किया

है। अपने नाटक 'सूर्यमुख' में लक्ष्मीनारायण लाल ने मुखौटे के प्रयोग का स्पष्ट निर्देश दिया है। 'इस नाटक में कृष्ण-पुत्र प्रद्युम्न को अपनी हमउम्र सबसे छोटी माँ वेणुरती से प्रथम दर्शन में ही प्रेम हो जाता है और दंडित होने पर इन सबसे बचने के लिए मुखौटा लगाकर छद्म रूप में नागकुंड की पहाड़ियों में जा छिपता है।"[16] डॉ. लाल ने अपने नाटक 'कलंकी' में पात्र के लिए 'ताड़ के गोल पंखे के पीछे मुँह छिपाए' रखने का निर्देश दिया है। डॉ. प्रभाकर श्रोत्रीय ने अपने नाटक 'इला' में इला और सद्युम्न को आपस में रूप बदलने के लिए मुखौटे के प्रयोग की निर्देशकीय छूट का जिक्र किया है।

गिरीश कर्नाड ने अपनी सुप्रसिद्ध नाट्यकृति 'अग्नि और बरखा' में मुखौटों का बड़ा ही सृजनात्मक और प्रतीकात्मक प्रयोग किया है। "महाभारत के वन पर्व में आई यवक्री और परावसु की अत्यंत संक्षिप्त और अवांतर कथा पर आधारित इस नाटक में रचनाकार ने पौराणिक परिवेश और पात्रों के अनुकूल मुखौटों का प्रयोग उनकी प्राचीन महत्ता, शक्ति, पवित्रता और प्रभावशीलता के साथ किया है। मुखौटा यहाँ एक नाट्य-रूढ़ि या युक्ति मात्र नहीं है। उसका अपना व्यक्तित्व और चरित्र है। यूँ तो 'अग्नि और बरखा' का आरंभ ही एक ब्रह्म राक्षस की लगभग नग्न आकृति से होता है, परंतु नाटककार ने उसके किसी मुखौटे का उल्लेख नहीं किया है। मुखौटे का उल्लेख तीसरे अंक के अंत में नाट्य-मंडली द्वारा प्रस्तुत नाटक 'इन्द्र विजय' (भगवान इंद्र और वृत्रासुर संग्राम) की तैयारी के दौरान कर्तानट द्वारा अरवसु को वृत्रासुर का मुखौटा और वेषभूषा देने के समय होता है। कर्तानट अरवसु को निर्देश देता है कि 'यह लो ये वृत्रासुर का मुखौटा है। अब अपने आप को समर्पित कर दो इस मुखौटे को। समर्पित हो जाओं और इसी में चेतन को भरो। हाँ, इतना ध्यान रहे, ज्यों ही तुम मुखौटे को जीवंत करते हो तो उस पर तुम्हें नियंत्रण भी साधना होगा। नहीं तो मुखौटा ही तुम पर चढ़ बैठेगा।"[17] कर्तानट के उपरोक्त कथन में मुखौटा, व्यंजनात्मक अर्थ देने के साथ-साथ विस्तृत आयाम भी देता है। गिरीश कर्नाड ने अपने नाटकों में लोक और शास्त्र, दोनों स्रोतों से प्रभाव ग्रहण करते हुए उसे एक-दूसरे का पूरक भी बनाने का प्रयास किया है। 'अग्नि और बरखा' नाटक में वे मुखौटे को प्रतीक के साथ-साथ एक विशाल रूपक में भी परिवर्तित कर देते हैं।

वर्तमान समय में आत्मकेंद्रित मानव अपनी जिन समस्याओं से जूझ रहा है उसमें द्वंद्व और कुंठा का शिकार होना स्वाभाविक है। आज का मानव विभाजित मानसिकता में जीने को अभिशप्त है। सुरेन्द्र वर्मा के नाटक द्रौपदी के संदर्भ में जयदेव तनेजा ने ठीक ही लिखा है कि "आज की द्रौपदी को पति के रूप में पाँच अलग-अलग पुरुषों (पांडवों) के साथ नहीं रहना पड़ता बल्कि एक ही पुरुष के पाँच यानी विभिन्न रूपों को एक साथ झेलना पड़ता है। इसी विखंडित व्यक्तित्व को रंगमंच पर साकार करने के लिए सुरेन्द्र वर्मा अपने नाटक 'द्रौपदी' में सुरेखा के पति मनमोहन खन्ना के साथ पाँच मुखौटाधारियों का भी प्रयोग कराते हैं। यहाँ मुखौटों या नकाबों की आकृतियाँ नहीं, उनके रूप महत्वपूर्ण हैं।" स्पष्ट है कि हिंदी के आधुनिक नाटककारों और निर्देशकों ने रंगमंच पर जीवन की विसंगतियों को दिखाने के लिए भी मुखौटों का बहुविधि प्रयोग किया है। मानव जीवन अंततः रंगमंच है तो मुखौटा मानव जीवन का वह आवरण जिसे ढोने के लिए वह कभी विवश होता है, तो कभी अपनी असलियत छुपाने के लिए ओढ़ लेता है। इस संदर्भ में मोहन राकेश के बहुचर्चित नाटक 'आधे-अधूरे' में सावित्री का जिन पाँच पुरुषों से संपर्क बनता है, वे सब अलग-

अलग मुखौटों में एक ही पितृसत्तात्मक चरित्र प्रतीत होते हैं। तभी इस नाटक की मुख्य पात्र सावित्री कहती है कि "सब के सब एक से! बिल्कुल एक से हैं आप लोग! अलग-अलग मुखौटे, पर चेहरा? चेहरा सबका एक ही !"

हिंदी नाट्य आलोचना को नई परिभाषा देने में नेमिचन्द्र जैन जी की बड़ी भूमिका रही है। उनका मानना है कि आधुनिक रंगमंच को 'पारंपरिक नाट्य की ओर उन्मुख' होने के साथ-साथ उसके प्रति 'एक स्वस्थ और दायित्वपूर्ण दृष्टिकोण' भी अपनाने की जरूरत है। पारंपरिक रंगमंच के महत्व को प्रतिस्थापित करते हुए अपने लेख 'पारंपरिक नाट्य' में नेमिचन्द्र जैन लिखते हैं कि, "किसी भी गंभीर भारतीय रंगकर्मी के लिए बहुत दिनों तक पारंपरिक नाट्यों की उपेक्षा करना संभव नहीं, और कभी-न-कभी किसी-न-किसी रूप में शहरी रंगकर्मी को उनके साथ अपना संबंध बनाना ही पड़ता है।"18 नेमिचन्द्र जैन इस संदर्भ में उन नाटककारों की एक सूची रखते हैं जिन्होंने पारंपरिक नाट्य-पद्धतियों, रुढ़ियों, युक्तियों और बुनावटों का इस्तेमाल किया है। जैसे-विजय तेंदुलकर का 'घासीराम कोतवाल', सतीश आलेकर का 'महानिर्वाण', गिरीश कर्नाड का 'हयवदन', चन्द्रशेखर कम्बार का 'जोकुमार स्वामी', मणि मधुकर का 'रसगंधर्व', सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का 'बकरी', अरुण मुखर्जी का 'मारीच संवाद', के.एम. पणिक्कर का 'अबनवन कटम्बा' आदि। इसके साथ ही वे प्रदर्शन और अभिनय में आकार ले रही एक नयी भारतीय शैली को रेखांकित करते हैं जिसमें संगीत, नृत्य आदि के अलावा 'मुखौटे तथा अन्य कई प्रकार की रीतिबद्धता द्वारा पारंपरिक नाट्यों में नए सृजनात्मक प्रयोग' किये जा रहे हैं। विशेष रूप से ब.व. कारन्त, जब्बार पटेल, सतीश आलेकर, रतन कुमार थियम, के.एम. पणिक्कर, बंसी कौल, हबीब तनवीर जैसे निर्देशकों की नाट्य-प्रस्तुति का उल्लेख नेमिजी अपने लेख में करते हैं। स्पष्ट है कि आधुनिक भारतीय रंगमंच पारंपरिक लोक नाट्य की रूढ़ियों और पद्धतियों का सृजनात्मक प्रयोग द्वारा अपनी प्रासंगिकता कायम रख सकता है। जिसमें मुखौटों का बहुविधि प्रयोग भी शामिल है।

मुखौटों के संदर्भ में अगर फिल्मों का जिक्र न हो तो मुखौटा-विमर्श अधूरा रह जाएगा, भले ही रंगमंच की अपेक्षा फिल्मों में मुखौटों का प्रयोग सीमित मात्रा में हुआ है। माना जाता है कि भारतीय फिल्मों में सर्वप्रथम सत्यजीत राय ने प्रभात मुखोपाध्याय की कथा पर आधारित फिल्म 'देवी' (1960 ई.) में मुखौटे का प्रयोग किया था। फिल्म की शुरुआत में ही त्रासदी के रूपक के रूप में सत्यजीत राय देवी के मुखौटे का प्रयोग करते हैं जो उनकी कल्पनाशीलता और सृजनशीलता का प्रमाण है। इस फिल्म में शर्मीला टैगोर और सौमित्र चटर्जी ने मुख्य भूमिका अदा की थी। फिल्म समीक्षक पार्थ चटर्जी के अनुसार देवी का यह मुखौटा "पहले से ही, दर्शक को आने वाली उन सभी संभावनाओं के लिए तैयार कर देता है, जिसमें मानव-इच्छा की दमनकारी शक्तियाँ अपने विभिन्न रूपों में उभरने वाली हैं।"19 सत्यजीत राय के अलावा ऋत्विक घटक ने 1968 ई में अपनी लघु फिल्म 'पुरुलियर छाऊ' (पुरुलिया का छाऊ नृत्य) में बंगाल के पुरुलिया में छऊ को फिल्माया था। उन्होंने छऊ का प्रयोग अपनी अंतिम फिल्म 'जुक्ति तोक्को आर गोप्पो (कारण, बहस और एक कहानी, 1971-74) में भी किया था। घटक ने अपनी फिल्म 'तिताश डाकटी नदीर नाम (1972) में चेहरे को रंगने की शैली का प्रयोग किया है। बुद्धदेव दासगुप्ता ने अपनी फिल्म

'उत्तरा' (1999ई.) और शाजी एन. करुण ने 'वानप्रस्थम' (2001) में मुखौटों का प्रतीकात्मक उपयोग किया है। बुद्धदेव दासगुप्ता ने 'उत्तरा' में छऊ मुखौटों का प्रयोग एक आंचलिक बंगला लोकगीतों के जरिए किया है, वहीं शाजी ने 'वानप्रस्थम' के केंद्र में एक अभिनेता है जो कथकली नृत्य शैली में शेक्सपीयर के आथोलो के अभिनय के लिए प्रसिद्ध हो चुका है। इस फिल्म में चेहरे को रंगने की अतिरंजिता मुखौटे का आभास देती है। स्पष्ट है कि भारतीय फिल्मों मे मुखौटों के सृजनात्मक प्रयोग की तमाम संभावना अभी भी मौजूद हैं। राजकपूर ने अपनी प्रसिद्ध फिल्म 'मेरा नाम जोकर' में मुखौटे का जिस प्रकार से प्रतीकात्मक प्रयोग किया है, वह आज भी प्रतिमान बना हुआ है। जहाँ तक पौराणिक फिल्मों की बात है तो एक लंबी सूची बनाई जा सकती है। तात्पर्य यह कि मुखौटा के प्रयोग के बिना पौराणिक-फिल्मों की कल्पना भी दुष्कर है।

निःसंदेह मुखौटा मानव सभ्यता, अध्यात्म, जीवन-पद्धति, कला और संस्कृति से सदियों से अभिन्न रूप से जुड़ा रहा है। साहित्य, कला, नृत्य और रंगमंच के क्षेत्र में मुखौटा मुहावरों, प्रतीकों, बिंबों, व्यंजनाओं और अभिव्यंजनाओं में आज भी उपस्थित है और आगे भी रहेगा। कभी गालिब ने कहा था कि 'काबा और बुतकदा, दोनों ही वह आवरण है जो मानव के भयंकर दुःस्वप्नों को ढंक देता है, जिसको उठाने से भयंकर दुःस्वप्न दिखेगा-"किब्लओं अब्रू-ए-बुत, यक रह-ए- ख्वाबीद:-ए-शौक, कअबः ओं बुतकदः यक महमिल- ए-ख्वाब-ए-संगी।" जीवन और जगत की विसंगतियाँ और विद्रूपताएँ ज्यों-ज्यों बढ़ती जाएँगी, मुखौटे नए प्रतीकों और संदर्भों के साथ कला- साहित्य-संस्कृति और जीवन में उपस्थित रहेंगे। आखिर आज जीवन और जगत का कौन-सा क्षेत्र मुखौटा विहीन रह गया है, यह कह पाना कठिन है। कवि उदयन वाजपेयी ने अपनी कविता 'मुखौटों का शौक' में ठीक ही लिखा है-

"हमें मुखौटों का शौक था

हाथ को धोकर सफाई के दस्ताने पहनते थे

पैरों में सफाई के मौजे चेहरे पर सफाई का मौजे...।"

संदर्भ

1. विस्तार के लिए देखें, मुद्रा राक्षस, रंग भूमिकाएँ, राजकमल प्रकाशन, सं. 2006, पृ. 39

2. देवेन्द्र राज अंकुर, रंगमंच का सौंदर्यशास्त्र, राजकमल प्रकाशन, सं. 2006, पृ. 47

3. देखें, 'मुखौटे रंगकर्म और आज का जीवन', जयदेव तनेजा, रंग प्रसंग', अक्टूबर-दिसंबर, 2004, पृ. 20

4. उपरोक्त, पृ. 21

5. उपरोक्त, पृ. 21

6. सरायकेला (ओड़िशा) छऊ नृत्य शैली के प्रयोगकर्ता शशीधर आचार्य से प्रकाश चन्द्र झा की बातचीत, उपरोक्त, पृ. 21

7. ओमप्रकाश भारती का लेख, 'सदियों से साथ हैं मुखौटे', 'रंग प्रसंग', अक्टूबर-दिसंबर, 2004, पृ. 41

8. महेंद्र मलांगिया, 'मैथिली लोक नाट्यक विस्तृत अध्ययन एवं विश्लेषण', मैथिली लोकरंग, नई दिल्ली, 2009, पृ. 139-141

9. ऋतुराज वशिष्ठ का लेख, 'यूनानी मुखौटा', उपरोक्त, पृ. 61

10. उपरोक्त, पृ. 66

11. नंदकिशोर आचार्य का लेख 'मुखौटा: आहार्य का अभिनय होना', उपरोक्त, पृ. 19

12. उपरोक्त, पृ. 5

13. 'मुखौटे रंगकर्म और आज का जीवन', जयदेव तनेजा, उपरोक्त, तनेजा जी ने हिंदी रंगमंच में मुखौटों के प्रयोग संबंधी सूचनाएँ सिलसिलेवार प्रस्तुत की है। इस लेख में अधिकतम सूचनाएँ उक्त आलेख से ली गई हैं।

14. उपरोक्त, पृ. 23

15. जहाँ लिखा है मुखौटा, दिनेश खन्ना, रंग प्रसंग, उपरोक्त, पृ. 52

16. 'मुखौटे रंगकर्म और आज का जीवन', जयदेव तनेजा, उपरोक्त, पृ. 25

17. उपरोक्त, पृ. 26

18. नेमिचन्द्र जैन का निबंध 'पारंपरिक नाट्य', 'नटरंग', 'नेमि शती' विशेषांक, संपादक-अशोक वाजपेयी, रश्मि वाजपेयी, जनवरी-सितंबर, 2019, पृ. 44

19. पार्थ चटर्जी का आलेख, 'भारतीय सिनेमा में मुखौटा', रंग प्रसंग, उपरोक्त, पृ. 49

प्रो. ज्ञानतोष कुमार झा

प्राचार्य, आत्माराम सनातन धर्म महाविद्यालय,

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110021